

# आचार्य श्रीमान् नेमिचन्द्र व बृहद्द्रव्यसंग्रह

पं. नरेंद्रकुमार जयवंतसा भिसीकर जैन (न्यायतीर्थ)

## १. ग्रन्थ नाम निर्देश

यह 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ द्रव्यानुयोग का एक अनुपम ग्रन्थ है। आचार्यदेव ने प्रथम १ से २६ गाथा तक लघुद्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ रचा। बाद में विशेष वर्णन करने की इच्छा से बृहद्द्रव्यसंग्रह रचा। इसकी मूल गाथाएँ ५८ हैं।

## २. ग्रन्थकर्ता परिचय

इस ग्रन्थ के मूल गाथा कर्ता आचार्य भगवान् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं। इनका विशेष परिचय संस्कृत-भुजबलि चरित्र के अनुसार इस प्रकार है—

द्रविड देश में मधुरा (मडूरा) नामक नगरी थी। उसके राजा राजमल्ल, तथा मन्त्री 'चामुंडराय' थे। उनसे किसीने कहा कि उत्तर दिशा में एक पोटनपुर नगर है। वहां श्री भरतचक्रवर्ती द्वारा स्थापित कायोत्सर्ग श्री बाहुबली का प्रतिबिंब है। जो कि वर्तमान में 'गोम्मटदेव' इस नाम से प्रसिद्ध है।

श्री चामुंडराय ने जब तक श्री बाहुबली के प्रतिबिंब का दर्शन न होगा तब तक दूध नहीं पीऊंगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर बाहुबली के दर्शनार्थ आचार्य नेमिचन्द्र के साथ श्री चामुंडराय ने प्रस्थान किया। बीच में किसी पर्वत पर जिनमंदिर का दर्शन कर वहां निवास किया। रात्रि में कूम्भांडी देव ने स्वप्न में आकर कहा कि इसी पर्वत में रावण द्वारा स्थापित श्री बाहुबली का प्रतिबिंब है। धनुष्य में सुवर्ण का बाण चढाकर पर्वत का भेदन करने पर प्रकट होगा।

श्री चामुंडराय ने उसी प्रकार किया और वहां से श्री बाहुबली का २० धनुष्य प्रमाण प्रतिबिंब प्रकट हुआ। उन्होंने भगवान् का अभिषेक कर भक्तिभाव से पूजन किया, अपने को धन्य समझा।

इस कथानक से आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती का जीवन काल शक सं. ६०० विक्रम संवत् ७३५ इसवी सन ६७९ था यह सिद्ध होता है। इनके रचित अन्य ग्रन्थ गोम्मटसार आदि हैं।

श्री नेमिचन्द्र आचार्य नंदीसंघ देशीयगण के प्रमुख आचार्य थे। उनके गुरु अभयनंदी, वीरनंदी, इंद्रनंदी, कनकनंदी ये चार महान् आचार्य थे।

तत्कालीन राजा राजमल्ल, चामुंडराय, राजा भोज उनके शिष्य थे।

मालव देश के 'धारा' नामक नगरी में 'राजा भोज' राज्य करता था। उसके राज्यमंडल में राजा श्रीपाल का भांडागार अधिकारी 'सोम' नामक राजश्रेष्ठी रहता था। उसके नियोगवश श्री मुनिसुव्रत भगवान के जिन मंदिर में आचार्य नेमिचंद्र ने इस ग्रन्थ की रचना की।

### ३. ग्रन्थ विषय-परिचय

इस ग्रन्थ के प्रामुख्य से तीन अधिकार हैं।

१. प्रथम अधिकार में—(गाथा १ से २७ तक) जीव द्रव्य का ९ अधिकारों में संक्षिप्त वर्णन करके पुद्गल द्रव्यादि पांच अजीव द्रव्यों का, पांच अस्तिकायों का वर्णन है।

२. द्वितीय अधिकार में—(गाथा २८ ते ३८ तक) जीव-अजीव आदि ७ तत्त्व और ९ पदार्थों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

३. तृतीय अधिकार में—(गाथा ३९ से ५८ तक) व्यवहार मोक्ष मार्ग व निश्चय मोक्ष मार्ग का स्वरूप बतलाकर मोक्षसिद्धि के लिये ध्यान की आवश्यकता बतलाकर ध्यान करनेवाला कौन हो सकता है, ध्यान किन मंत्रों से करना चाहिये, ध्यान किस का करना चाहिये, ध्यान सिद्धि का उपाय क्या है इसका विशद विवरण किया है। अन्त में अन्तिम निवेदन कर ग्रन्थ की समाप्ति की है।

### ४. ग्रंथ की कथनशैली

ग्रन्थकारने प्रत्येक विषय का वर्णन इस ग्रन्थ में अनेकांत पद्धति से उभय नयों द्वारा किया है।

व्यवहार नय से वर्तमान में जीव की कर्मोदय निमित्तवश क्या-क्या अवस्था होती है, जीव कितने प्रकार से व्यवहार में जाना जाता है उसका वर्णन किया है। इस व्यवहार नय का मुख्य अभिप्राय यह है कि यह व्यवहार नय से जो जीव का गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीव समास रूप से कथन किया है वह वर्तमान में जीव की क्या-क्या अवस्था हो रही है इसका सामान्य जनों को ज्ञान होने के लिये व्यवहार भाषा से यह जीव का वर्णन किया है ऐसा अभिप्राय समझना। यह व्यवहार कथन जीव के स्वभाव का स्वरूप का कथन नहीं है, उसके बहिरंग बाह्यरूप का कथन है। उसके बिना व्यवहारी जनों को जीव का बोध कराने का दूसरा उपाय नहीं है इसलिये व्यवहार नय से व्यवहारी जन भाषा से जीव का कथन किया गया है।

जिस प्रकार व्यवहार में व्यवहार चलन के लिये प्रयोजनवश 'घीका घडा' ऐसा शब्द प्रयोग करना पड़ता है और व्यवहारी जन समझ लेते हैं कि घडा घीका नहीं है। घडा तो मिट्टी का ही है। घडे में घी रखा है। इसलिये व्यवहार में उपचार से 'घी का घडा' बोला जाता है। बोलने में 'घी का घडा' ऐसा शब्द प्रयोग बोल कर भी उसका ठीक अभिप्राय सब बालगोपाल समझ लेते हैं।

उसी प्रकार आचार्यदेव ने जीव का बोध कराने के लिये गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवसमास भेद से यद्यपि जीव का कथन व्यवहारनय से किया है तो भी वह केवल उपचार ही समझना। कथनमात्र उसका

प्रयोजन समझना । उनके शब्द प्रयोग से वह जीव का परमार्थ स्वरूप नहीं समझना । यह व्यवहारनय का निश्चयनयानुकूल एक ही अभिप्राय होने से दोनों नयों में परस्पर विरोध नहीं है ।

दोनों नयों का अभिप्राय समझ कर दोनों नयों का यथार्थ अर्थ समझनाही दोनों नयों का सम्यग्ज्ञान है । वह अनेकांत प्रमाण जैनशासन है ।

दोनों नयों को एक कोटि में रखकर दोनों नयों को परमार्थ समझना, व्यवहारनय से जो कहा उसको भी जीव का परमार्थ स्वरूप समझना, और निश्चयनय से जो कहा वह भी वस्तु का परमार्थ स्वरूप है, इस प्रकार दोनों नयों को परमार्थ समझना यह सम्यक् अनेकांत नहीं है । वह अनेकांताभास है ।

वस्तु का परमार्थ स्वरूप एकही होता है । यद्यपि वस्तु के अंग दो होते हैं । (१) अंतरंग, (२) बहिरंग तथापि दोनों वस्तु के परमार्थ स्वरूप नहीं है । जो वस्तु का अंतरंग स्वरूप होता है वही वस्तु का ध्रुव स्वरूप होने से परमार्थ है ।

जो वस्तु का बहिरंग रूप होता है वह वस्तु ने तावकाल धारण किया हुआ उसका रूप है, उसका ध्रुव स्वरूप नहीं है । वह उसका विभावरूप है । उस विभावरूप से जीव का कथन किया इसलिये उस विभाव को वस्तु का परमार्थ स्वरूप नहीं समझना । कहने और समझने में अंतर है ।

घड़े को घी का कहने में विरोध नहीं है । लेकिन जैसा कहा वैसा यदि उसको घी का ही समझे तो उसको घी का घड़ा कहाँ भी मिलना असंभव है ।

**‘ व्यवहारः वक्तव्यः न तु परमार्थेन अनुसर्तव्यः । ’**

व्यवहार यह केवल वक्तव्यमात्र है, वह स्वयं परमार्थ नहीं है । लेकिन परमार्थ का सूचक होने से वक्तव्यमात्र है । व्यवहार आश्रय करने के लिये योग्य नहीं है । केवल निश्चयनय ही आश्रय करने योग्य है । क्योंकि निश्चयनय परमार्थ भूतार्थ है । वस्तु का जो मूल परमार्थ ध्रुव स्वरूप है उसको निश्चयनय बतलाता है ।

यद्यपि दोनों नय वस्तु का स्वरूप और विरूप समझने में साधक है । समझने के बाद वस्तुस्वरूप का निर्विकल्प अनुभव करते समय दोनों नयों का पक्षपात छूट जाता है तथापि जिस प्रकार व्यवहारनय के विषय की—उपाधि की—विकार की वस्तु स्वरूप में नास्ति है उस प्रकार निश्चयनय के विषय की नास्ति नहीं है । केवल निश्चयनय का पक्षपात छूटता है । तथापि निश्चयनय के विषय का अवलंबन नहीं छूटता । क्योंकि निश्चयनय का अवलंबन विषय ध्रुवस्वभाव है । उसके अवलंबन विना निर्विकल्प अनुभूति नहीं होती है ।

सारांश निश्चय और व्यवहार का यथार्थ अभिप्राय जानना ही सम्यक्ज्ञान है । निश्चयनय का जो कथन है वही वस्तु का परमार्थ ध्रुव स्वरूप है उसका अवलंबन उपादेय है । तथा व्यवहारनय का जो कथन है वह वस्तु का बहिरंग पर्याय का कथन है वह परमार्थस्वरूप नहीं है ऐसा जो समीचीन ज्ञान यही दोनों नयों का सम्यक्ज्ञान है ।

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। सामान्य-विशेष—उभयधर्मात्मक है। १ सामान्य अंश, २ विशेष अंश।

१. सामान्य अंश—वस्तु का अन्तरंग परमार्थस्वरूप होता है। वह अपरिणमनशील, ध्रुव, एकरूप, नित्य शुद्ध होता है। इसीको स्वभावगुण-लक्षण कहते हैं। सामान्य अंश यह पारिणामिकभाव रूप होता है। उसका अवलंबन लेकर ही पर्याय में वस्तु का परिणमन स्वभाव-निर्मल परिणमन शुरू होता है। यही सब अध्यात्म ग्रन्थों का सार संक्षेप है।

निश्चयनय का विषय यह ध्रुव सामान्य अंश है। यद्यपि सामान्य यह एक वस्तु का अंश है तथापि वह विशेष की तरह अंशरूप नहीं है। अंशज्ञानरूप नहीं है। अंशी के वस्तु के पूर्ण ज्ञानरूप है। व्यापक है। यह सामान्य अंश नित्य विद्यमान रहता है। शुद्ध होता है। उस शुद्ध का आश्रय लेने से शुद्ध पर्याय प्रकट होती है।

२. विशेष अंश—वस्तु का तावत्काल धारण किया हुआ बाह्य रूप है। क्षणिक है, परिणमनशील है। अनेक रूप होता है। उसके दो भेद हैं १ स्वभावविशेष, २ विभावविशेष।

१ वस्तु का जो परिणमन वस्तु के ध्रुव सामान्य स्वभाव के आश्रय से होता है वह स्वभाव परिणमन शुद्ध परिणमन है।

२ जो परिणमन ध्रुवसामान्य का भान न होने से अनादि परम्परागत बाह्य विकार का अवलंबन लेने से प्रगट होता है वह विभाव-अशुद्ध परिणमन है।

इस अशुद्धपरिणमन में केवल विकार ही नहीं है। क्योंकि विकार तो अवस्तु है। उसका मूल वस्तु नहीं है। अनादि विकार ही उसका मूल है। विकार से ही विकार आता है। विकार का आश्रय लेने से विकार आता है। तथापि उस विकार के साथ वस्तु का ध्रुवसामान्य अंश विद्यमान रहता है इसलिए उसको अशुद्ध कहते हैं। मिश्रण में दो अंश होते हैं। अन्तरंग में ध्रुव सामान्य अंश और बहिरंग पर्याय में अशुद्ध विकार अंश रहता है। इसलिए अशुद्ध परिणमन रहते हुए भी जीव अपने में नित्य ध्रुव विद्यमान रहने वाले शुद्ध सामान्य अंश का योग्य काललब्धिवश अपने नियत पुरुषार्थबल से भाव करे, अनुभव लेवे तो उसका अशुद्ध परिणमन बंद होकर, मिटकर, सर्वथा नष्ट होकर, शुद्ध परिणमन शुरू होता है।

रागादि विकाररूप अशुद्धता वास्तव में जीव के अज्ञान का, मिथ्या कल्पना का कल्पनाजाल है। भ्रम है। अवस्तु है। वस्तुभूत नहीं है। वह विकार मूलवस्तुस्वभाव में नहीं और वस्तु के निर्मल परिणमन में भी उसका सर्वथा अभाव है। सर्वथा नास्ति है। केवल अंतराल में वह अपना क्षणिक संयोगीरूप बतला कर जीव को भ्रम में डालता है।

जीव उसको वस्तु न होकर भी अज्ञान से वस्तु समझता है। उसके पीछे लगता है। उसमें अपना सारा जीवन बरबाद करता है तो भी उसको होश नहीं है। वह मूर्छित होकर उसीमें मस्त होकर नींद लेता है।

उसको आचार्य देव जागृत कर समझाते हैं, हे आत्मन्, जिसमें तू रम रहा है वह तेरा स्थान नहीं है। वह वस्तु नहीं है। वह अवस्तु है। चित्रपट पर दीखनेवाले चित्र के समान भ्रम रूप है। तेरा पद तो तेरे अंतरंग वस्तु में है। वह ध्रुव शाश्वत है। उसका अवलंबन लेनेपर तुझे शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी।

यही सब शास्त्रकारों का सारसंक्षेप है वे यद्यपि भिन्न भिन्न नयभाषा में शास्त्र में वर्णन करते हैं तथापि सब शास्त्रकारों का अभिप्राय एक ही है।

विकार यह विकार ही है। विकार जीव का स्वरूप नहीं है। विकार का जीव से तादात्म्य नहीं है। विकार को भिन्न, परवस्तु समझ कर अपनी ध्रुव वस्तु जो ज्ञानस्वभाव उसका आश्रय लेना ही मोक्षमार्ग है। वही जीव का सच्चा धर्म है।

जहां व्यवहारशास्त्र में विकार जीव का ही है ऐसा कहा है वहां आचार्य का अभिप्राय जीव का स्वभाव कहने का नहीं है। अज्ञानी विकार को पर का अपराध मानकर, मेरा अपराध नहीं है ऐसा मानकर यथेच्छ विकार में रममाण होता है उसके लिये व्यवहारी जन को व्यवहारी भाषा में समझाने के लिये व्यवहार नय से विकार को आत्मा का कहा है।

लेकिन वहां भी वह आत्मा का अपराध ही कहा है। उसको स्वभाव या परमार्थ वस्तु नहीं कहा है। विकार परके, कर्म के उदय के कारण नहीं आता है। यह जीव अज्ञान से स्वयं अपने अपराध से राग से तन्मय होता है, उस समय कर्म का उदय अवश्य रहता है लेकिन अपने रागपरिणमन का कार्यकारण भाव कर्म के उदय के साथ लगाना यह उपचार-व्यवहारनय कथन है। वास्तव में कर्मोदय के साथ उसका कार्यकारण भाव नहीं है। उसका कारण जीव का स्वयं अपराध है। इस अभिप्राय से व्यवहारशास्त्र में रागविकार जीव का ही है ऐसा व्यवहारनय से कहा है।

इस प्रकार वस्तु में प्रामुख्यता से २ अंश और उसके भेदरूप से ३ अंश विवक्षित होते हैं। इसलिये उनको कथन करनेवाले नय भी प्रामुख्यता से ३ ही हैं। १ सामान्य अंश, २ स्वभाव विशेष अंश, ३ विभाव विशेषांश।

१. सामान्य अंश—को कथन करना निश्चयनय का विषय है। जीव इस संसार अवस्था में भी विद्यमान अपने ध्रुव, नित्यशुद्ध सामान्य अंश का पारिणामिक भाव का आश्रय लेकर पर्याय में शुद्ध परिणमन कर सकता है। यह निश्चयनय का अभिप्राय है। जीव का केवल ज्ञान स्वभाव त्रिकालवर्ती ध्रुव है।

२. स्वभाव पर्यायविशेष—सामान्य अंश के आश्रय से जो निर्मल परिणमन होता है वह स्वभावपर्याय विशेष है। वह सद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

पर्याय का कथन होने से व्यवहार है। वह पर्याय शुद्धपर्याय है, उसका द्रव्य के साथ तादात्म्य है, उसकी द्रव्य में अस्ति है इसलिये उसको सद्भूत कहते हैं। जैसे जीव का केवल ज्ञानस्वभाव पर्याय ध्रुव केवल ज्ञानस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। क्षायिकभाव स्वभाव पर्याय विशेष है।

३. विभाव पर्यायविशेष—ध्रुवस्वभाव का भान न होने से अनादि परम्परागत विकारभाव का आश्रय लेकर जो स्वभाव-विरुद्ध विकाररूप परिणमन होता है उसको विभावविशेष कहते हैं। वह जीव का अपराध होने से उसको जीव का कहना यह असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

पर्याय का आश्रय होने से व्यवहार और वह विकार वस्तुभूत नहीं है, वस्तु का परमार्थस्वरूप नहीं है। असद्भूत अभूतार्थ है। मोक्षमार्ग के लिए वह प्रयोजनभूत नहीं है। बिना मावाप का यह व्यभिचारी-भाव है, स्वाभाविकभाव नहीं है इसलिए असद्भूत है।

जैसे औदयिकभाव, रागादिविकारभाव जीव के स्वभाव न होकर विभाव होने से उनको जीव के कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है।

सब शास्त्रों में जो कथन आता है वह सब इन तीन नयों में अन्तर्भूत है। अन्य जो भी नयभेद कहे गए हैं वे सब इन्हींके भेद-प्रभेद हैं।

### ५. प्रथम अध्याय संक्षिप्त वर्णन

इस बृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा वस्तु का वर्णन करते समय प्रामुख्य से तीन नयों की विवक्षा अभिप्रेत की गई है।

१. वस्तु का जो स्वभावकथन वह निश्चयनय से किया है।
२. वस्तु का जो अशुद्धभाव वह द्रव्य का अशुद्ध परिणमन होने से उसको अशुद्ध निश्चयनय कहा है।
३. वस्तु के अन्यद्रव्याश्रय से जो उपचार कथन है उसको व्यवहारनय अथवा उपचारनय कहा है।
  - (१) जीव का वर्णन करते समय ९ अधिकारों में जीव का वर्णन करते समय व्यवहारनय से जो बाह्य दश प्राणों को धारण करता है वह जीव है। निश्चयनय से जो सहज सिद्ध शुद्ध चेतन प्राण को धारण करता है वह जीव है।
  - (२) व्यवहारनय से ८ प्रकार ज्ञानोपयोग ४ प्रकार दर्शनोपयोग जीव का सामान्य लक्षण है। निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग जीव का लक्षण है।
  - (३) निश्चयनय से वर्णादिक से रहित होने से जीव अमूर्त है। व्यवहारनय से कर्म के साथ बद्ध होने से जीव मूर्तिक है।
४. व्यवहारनय से जीव ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव-कर्मों का कर्ता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान भाव का कर्ता है।
५. व्यवहारनय से पुद्गल कर्मोदयका फल सुखदुःख का भोक्ता है। निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्य भाव का भोक्ता है।

६. व्यवहारनय से जीव अपने अपने शरीर प्रमाण छोटा बड़ा है। निश्चयनय से सब जीव असंख्यात प्रदेशी समान है।

७. व्यवहारनय से जीव संसारी है, १४ मार्गणा, १४ गुण स्थान १४ जीव समास इनसे युक्त है। शुद्धनय से निश्चयनय से सर्व जीवमात्र शुद्ध ही है।

८. निश्चयनय से सब बंधों से मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव है। व्यवहारनय से संसारी जीव विग्रह गति में विदिशा को छोड़कर चारों दिशाओं के ओर और नीचे ऊपर श्रेणी के अनुरूप गमन करता है।

९. निश्चयनय से मुक्त जीव शुद्ध चैतन्य मात्र है। स्वतःसिद्ध सिद्ध है, व्यवहारनय से कर्मों से मुक्त है, सम्यक्वादि आठ गुणों से सहित है, चरम देह से किंचित् न्यून आकार है। लोकाप्रस्थित है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है।

### पांच अजीव द्रव्य वर्णन

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये ५ अजीव द्रव्य है। इनमें से पुद्गलद्रव्य मूर्त है। शेष द्रव्य अमूर्त है। शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत, आतप ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं। गतिमान् जीव पुद्गलों को गमन करने में सर्व साधारण बाह्य निमित्त कारण धर्म द्रव्य है।

स्थितिमान् जीव पुद्गलों को स्थिर होने में सर्वसाधारण बाह्य निमित्त अधर्म द्रव्य है।

सब द्रव्यों को अवगाह देने में बाह्य निमित्त आकाश द्रव्य है। सब द्रव्यों को अपने अपने पर्याय रूप से परिणमन करने में बाह्य निमित्त काल द्रव्य है।

धर्मादिक द्रव्य जितने आकाश के भाग में रहते हैं उसको लोकाकाश कहते हैं। उसके आगे चारों ओर अनंत अलोकाकाश है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु इस प्रकार असंख्यात कालाणु द्रव्य है। धर्म-अधर्म-आकाश एक एक अखंड द्रव्य है। जीव अनंतानंत है। पुद्गल परमाणु इनसे भी अनन्त पट है।

काल को छोड़कर पांच द्रव्यों को अस्तिकाय-बहुप्रदेशी द्रव्य कहते हैं। काल एकप्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है।

धर्म-अधर्म प्रत्येक जीव इनके प्रत्येक के लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश होते हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। पुद्गल परमाणु वास्तव में निश्चयनय से एकप्रदेशी हैं। परंतु जितने परमाणु का स्क्ंध होता है वह संख्यात-असंख्यात अनंतप्रदेशी उपचार से कहा जाता है। इसलिये बहुप्रदेशी है।

### ६. द्वितीय अधिकार संक्षिप्त वर्णन

इस अधिकार में जीव-अजीवादि ७ तत्त्वों का तथा पुण्य-पाप मिलाकर ९ पदार्थों का वर्णन किया है। वास्तव में तत्त्व ७ जीव और अजीव द्रव्य के संयोगविशेष से उत्पन्न होनेवाले संयोगी रूप है। इसलिये इनका

वर्णन द्रव्य भाव रूपसे किया गया है। जो जीव द्रव्य का विभाव परिणमन है उसको भावतत्त्व रूपसे संबोधित किया है। जो कर्म का परिणमन है वह द्रव्यतत्त्व रूपसे संबोधित किया है।

जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभावनय से निर्मल है तथापि जपापुष्पादि के उपाधि से लाल-नील आदि रंगरूप से परिणत दिखता है।

उसी प्रकार जीव यद्यपि निश्चयनय से द्रव्यरूप से सहजशुद्ध चिदानंद एकस्वभाव है तथापि अनादि कर्मबंध पर्यायनय से भावरूप से रागादि विकाररूप परिणमता है। यद्यपि भावरूप से पर्याय से रागादि पर पर्यायरूप परिणमता है तथापि द्रव्यरूप से अपना शुद्ध स्वरूप छोड़ता नहीं—उस रागादि से तादात्म्य होता नहीं। वे रागादिभाव द्रव्य के स्वभाव में प्रवेश करते नहीं। विकाररूप परिणमने पर भी जीव अपना ध्रुव स्वभाव कायम रखता है। नित्य विद्यमान उस शुद्ध ध्रुव स्वभाव के अवलंबन से वह अशुद्ध परिणमन को नष्ट कर शुद्ध परिणमन में तादात्म्य हो सकता है।

यहां पर रागादि उपाधि को ही प्रामुख्यता से भाव अजीवतत्व कहा है। उस उपाधि का कारण रागादिकभाव ही है उनको आस्रव और बन्धतत्त्व कहा है। इसलिए अजीव-आस्रव बन्ध तत्त्व उपाधिरूप होने से, संसार दुःख का कारण होने से हेय है।

शुद्ध चैतन्यभाव को जीव कहा है। उसके आश्रय से संवर-निर्जरा-मोक्ष साधकतत्त्व है। उनको उपादेय कहा है।

इन सात तत्त्वों का हेय-उपादेयरूप से जो समीचीन श्रद्धान उसको सम्यग्दर्शन कहा है।

अथवा ये ७ तत्त्व एकही जीव के ७ बाह्य स्वभाव-विभावरूप है।

उनको ७ रूप मानना यह अतत्त्वश्रद्धान है।

उन सात तत्त्वों में ध्रुवस्वभावरूप से रहनेवाला जो परिणामिक भावरूप कारणपरमात्मतत्त्व-शुद्धजीव-तत्त्व उसीको एकरूप समझना यह ७ तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान है।

१. भावास्रव—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आते हैं उनको भावास्रव कहते हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन परिणामों से नवीन कर्मों का आस्रव होता है।

२. द्रव्यास्रव—भावास्रव के निमित्त से कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

१. भावबंध—आत्मा के जिस परिणाम से कर्म बंधते हैं वह भावबंध है।

२. द्रव्यबंध—भावबंध के निमित्त से जो आत्मप्रदेश और कर्मपरमाणु इनका परस्पर बंध होता है वह द्रव्यबंध है।

१. भावसंवर—आत्मा के जिन परिणामों से नवीन कर्म का आस्रव रुकता है। सम्यग्दर्शन सहित व्रत, समिति, गुप्ति, धर्मअनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र इन परिणामों से नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है। उन परिणामों को भावसंवर कहते हैं।



२. **द्रव्यसंवर**—भावसंवर के निमित्त से नवीन कर्मों का आस्रव बंद होना वह द्रव्यसंवर है ।
१. **भावनिर्जरा**—आत्मा के जिन परिणामों से पूर्ववद्ध कर्म फल न देते हुए निकल जाते हैं उन परिणामों को भावनिर्जरा कहते हैं ।
२. **द्रव्यनिर्जरा**—भावनिर्जरा के निमित्त से जो पूर्ववद्ध कर्मफल न देते हुए झरना वह द्रव्यनिर्जरा है ।
१. **भावमोक्ष**—आत्मा के जिन परिणामों के आश्रय से सब कर्मों का क्षय होता है उन परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं ।
२. **द्रव्यमोक्ष**—भावमोक्ष के निमित्त से सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना द्रव्यमोक्ष है ।

सात तत्त्वों में पुण्य-पाप का आस्रव-बंधतत्त्व में अंतर्भाव किया है । उनका विशेष वर्णन करने के लिये उनको अलग वर्णन करके ९ पदार्थ कहे गये हैं ।

१. भाव पुण्य—भाव पाप—जीव के जो शुभ अशुभ भाव उनको भावपुण्य भाव पाप कहते हैं ।
२. द्रव्य पुण्य पाप—भाव पुण्य पापके निमित्त से जो पुण्य पाप रूप द्रव्य कर्म आते हैं वह द्रव्य पुण्य-पाप तत्त्व है ।
१. द्रव्य पुण्य प्रकृति साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र, पुण्य प्रकृति है ।
२. द्रव्य पाप प्रकृति—असाता वेदनीय, अशुभायु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा ४ घातिकर्मों की प्रकृति ये सब पाप प्रकृति है ।

इस अधिकार में संस्कृत टीका में संसार भावना में पंच परावर्तन का स्वरूप तथा लोकानुप्रेक्षा में अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक का विशेष वर्णन संग्रहरूप से किया है । विषय कषाय प्रवृत्तिरूप अशुभोपयोग भाव से पापकर्मों का आस्रव होता है इसलिये उनको तो सर्वथा हेय कहा है । देव-शास्त्र-गुरु भक्तिरूप शुभ उपयोग भाव, यद्यपि अशुभ भोग से बचने के निमित्त तावत्काल अवलंबन करने योग्य कहे हैं तथापि ज्ञानी वह शुभ उपयोग पुण्य बंधका ही कारण मानता है । मोक्ष का कारण नहीं मानता है । मोक्ष का कारण शुद्ध उपयोग को ही मान कर उसीको आत्म स्वभाव मानता है । भावना शुद्धोपयोग की ही करता है । उसीको उपादेय मानता है । उसमें स्थिर होने में असमर्थ होने से तावत्काल उसको शुभ भाव आता है । लेकिन उस शुभ भाव से पुण्यफल की प्राप्ति हो ऐसा निदान नहीं करता है । शुभ भाव से प्राप्त जो पुण्यफल उसमें आसक्त नहीं होता । भेद ज्ञान बल के सामर्थ्य से वह योग्य काललब्धि आने पर संपूर्ण शुभ अशुभ योग से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग के बल से मोक्ष को प्राप्त करता है ।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तीव्र निदान बांधने से पुण्यफल को भोगकर रावणादिक की तरह नरक में जाते हैं ।

### ७. तृतीय अधिकार का संक्षिप्त वर्णन

इस अधिकार में तीर्थप्रवृत्ति निमित्त के प्रयोजन से अशुभयोग से निवृत्ति तथा शुभयोग प्रवृत्तिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन कर, निश्चय से संपूर्ण क्रिया निवृत्तिरूप निश्चय रत्नत्रय यही मोक्ष का साक्षात्

मार्ग है ऐसा बतलाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह आत्मा का स्वभाव है। इनसे युक्त आत्मा ही साक्षात् मोक्षमार्ग है और आत्मा ही साक्षात् मोक्षस्वरूप है। जो सिद्ध अवस्था में अनंतज्ञानादि गुणस्वरूप से आत्मा प्रगट होता है उतना ही स्वतः सिद्ध मूल आत्मतत्त्व है। शेष जो उपाधि आगन्तुक थी वह सर्वथा नष्ट हो गई। जो मूल ध्रुव आत्मतत्त्व था वही शेष रह गया इसलिये आत्मा ही साक्षात् सिद्ध है। आत्मा के आश्रय से ही मोक्ष होता है। इसलिये मोक्षमार्ग भी आत्मा ही है।

सम्यग्दर्शन सहित व्रत-चारित्ररूप जो भी शुभ प्रवृत्ति मार्ग है वह सब आत्मसिद्धि के अभिप्राय से निश्चय मोक्षमार्ग की बड़ी भावना से युक्त होने से व्यवहार मार्ग को भी परंपरा से मोक्षमार्ग कहा है।

वास्तव में व्रत-चारित्ररूप शुभ प्रवृत्ति साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, वह तो पुण्यबंध का ही कारण है परंतु उसमें पुण्यफल की स्वर्गसुख की इच्छा न होने से वह पुण्यक्रिया निदानपूर्वक न होने से अंत में उस शुभक्रिया प्रवृत्ति से भी निवृत्त होकर आत्मा में अविचल स्थिरवृत्ति होता है। उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति संपूर्ण क्रिया निवृत्ति से ही निश्चय मोक्षमार्ग से ही होती है, शुभ प्रवृत्ति-रूप व्यवहार मार्ग से नहीं इसको सम्यक् अनेकांत कहते हैं। दोनों से मोक्षप्राप्ति मानना व्यभिचारी मिथ्या अनेकांत है। अनेकांताभास है।

संपूर्ण क्रिया से निवृत्त होकर आत्मा में स्थिरवृत्ति रखना यही निश्चय सम्यक्चारित्र है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है। वही साक्षात् मोक्ष है। अभेद नय से मोक्ष मार्ग और मोक्ष, कारण और कार्य एक अभेद आत्मा ही है।

विवक्षावश प्रयोजन से उसका कथन व्यवहार नय से दो प्रकार से या तीन प्रकार से विविध रूप से किया जाता है। तथापि निश्चय से मार्ग एक ही होता है।

मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन कही है। गुणस्थान ४ से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग का प्रारंभ शुरू होता है।

गुणस्थान ४ में यद्यपि शुभ प्रवृत्ति या अशुभ निवृत्ति रूप व्रत-चारित्र उपयोग रूप से न होने से उसको अक्रिय कहा है तथापि संपूर्ण क्रिया निवृत्ति रूप शुद्धोपयोग की भावना निरन्तर जागृत रहती है इसलिये वहां भी भावना रूप लब्धिरूप स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन का अविनाभावि होने से अवश्य रहता है इसलिये मोक्षमार्ग का वास्तविक प्रारंभ गुणस्थान ४ से ही होता है। तथापि उपयोगरूप स्वरूपाचरण चारित्ररूप शुद्धोपयोग मुख्यता से साक्षात् श्रेणी चढने को उन्मुख सातिशय अप्रमत्त से निश्चय मोक्षमार्ग कहा जाता है। केवल नय विवक्षा भेद है। वह विवाद पक्ष का विषय नहीं है।

सम्यग्दर्शन का वर्णन करते समय बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का तथा उनमें प्रसिद्ध पुरुषों का चरित्र वर्णन किया है वह प्राथमिक अवस्था में खास पठन करना आवश्यक है।

(दृष्टान्ते स्थिरा मतिः) दृष्टान्त, चरित्र पठन—पाठन करने से धर्म में बुद्धि स्थिर—दृढ होती है। सम्यग्दर्शन होने पर ही जो दुरभिनिवेश पूर्वक ज्ञान और चारित्र मिथ्या या वही दुरभिनिवेश रहित होने से सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र कहा जाता है। ज्ञान—दर्शन—चारित्र इन तीनों की एकता—अविनाभाव युगपत् रहता है। वे तीनों यदि मिथ्या दर्शन से सहित हो तो तीनों मिथ्या हैं और यदि सम्यग्दर्शन से सहित हो तो तीनों सम्यक् हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव ने भी अष्टपाहुड में चारित्र के दो भेद किये हैं। १ सम्यक्चरण, २ चारित्रचरण।

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी शुद्धोपयोग के दो भेद किये हैं। १ भावनारूप, २ उपयोगरूप।

१. भावनारूप शुद्धोपयोग ही सम्यक्चरण चारित्र या लब्धिरूप स्वरूपाचरण चारित्र सम्यक्त्व का अविनाभावि होने से गुणस्थान ४ से शुरू होता है इसलिये निश्चय मोक्ष मार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही होता है।

उपयोगरूप शुद्धोपयोगरूप निश्चय चारित्र का प्रारंभ गुणस्थान ७ से होकर पूर्णता गुणस्थान १४ के अंत समय में होती है। गुणस्थान १४ के अंत समय की रत्नत्रय की पूर्णता व्यवहार से कारण मोक्षमार्ग कहलाती है और उत्तर समय की सिद्ध अवस्था मोक्षकार्य कहलाती है। पूर्वपर्याय उपादान और उत्तर पर्याय उपादेय होने से पूर्वोत्तर समय में कार्य—कारणभाव भेददृष्टि से व्यवहारनय से कहा जाता है। वास्तव में अभेद दृष्टि से निश्चय से कार्य—कारण एक ही समय में होते हैं।

### न्यायशास्त्र में 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः'

कारण का क्षय ही कार्य का उत्पाद है। कारण का क्षय ही कार्य का कारण है वही कार्य है। कार्य—कारण अभेद होने से एक समय में ही होते हैं।

ज्ञान के दृढ निर्णय को ही श्रद्धा या सम्यग्दर्शन कहते हैं। ज्ञान की ज्ञान में वृत्ति, आत्मा का आत्मा में रमण ही चारित्र है। इसलिये ज्ञानमात्र आत्मा ही मोक्षमार्ग है और आत्मा ही साक्षात् मोक्ष है।

रत्नत्रय धर्म की सिद्धि या आत्मा की सिद्धि ध्यान से होती है। ध्यान की सिद्धि के लिये ध्याता कैसा होना चाहिये, ध्यान किस प्रकार से करना चाहिये, और ध्यान किसका करना चाहिये इसका विवरण इस ग्रंथ में किया है। ध्यान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिये ध्यान का अभ्यास करने की प्रेरणा की है।

१. ध्याता का लक्षण—ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त की स्थिरता आवश्यक है। चित्त की स्थिरता के लिए चित्त की अस्थिरता का कारण जो राग, द्वेष, मोह उसका त्याग आवश्यक है। वही ध्याता ध्यान की सिद्धि कर सकता है।

२. ध्यान के प्रकार—ध्यान के ४ प्रकार हैं ।

१ आर्तध्यान, २ रौद्रध्यान, ३ धर्मध्यान, ४ शुक्लध्यान ।

उनमें से पहले दो ध्यान संसार बन्धन का कारण होने से हेय हैं । धर्मध्यान—शुक्लध्यान मोक्ष का कारण होने से उपादेय हैं ।

ध्यान का प्रबन्धक राग—द्वेष—मोह है ।

**प्रश्न**—राग—द्वेष—मोह किसका कार्य है । क्या जीव का कार्य है ? या कर्म का कार्य है ?

**उत्तर**—राग, द्वेष, मोह न केवल जीव वस्तु का कार्य है, तथा न केवल कर्मरूप पुद्गल वस्तु का कार्य है । किंतु दोनों के संयोग का यह कार्य है ।

१. एकदेश शुद्ध निश्चयनय से राग पर भाव है, अनात्मभाव है । कर्म के आश्रय से होता है । इसलिए उसको कर्मजनित कहा जाता है ।

२. अशुद्ध निश्चयनय से वह आत्मा का ही अपराध है इसलिए वह आत्मजनित कहा जाता है ।

३. शुद्ध निश्चयनय से राग न आत्मा का कार्य है, न कर्म का भी कार्य है । वह स्वयं मूल वस्तु से उत्पन्न न होने से अवस्तुभूत है और अवस्तुभूत राग का ही वह कार्य होने से अवस्तुभूत है । तथापि रागी जीव उसको वस्तुभूत मानकर उनसे मोहित होता है । राग—द्वेष—मोह से दुर्ध्यान, आर्तारौद्रध्यान होते हैं अतएव वह हेय है ।

राग, द्वेष, मोह का अभावरूप धर्म—शुक्लध्यान उपादेय है ।

३. ध्यान के मंत्र—पंच परमेष्ठीवाचक—णमोकार मंत्र, या बीजाक्षरी ॐ कार रूप ऋंकार रूप एकाक्षरी मंत्र से लेकर अनेक प्रकार के मंत्रों का शास्त्र में विधान किया है । उन मंत्रों से ध्यान करना चाहिए ।

४. ध्यान किसका करना—निश्चयनय से ध्यान करने योग्य आत्मा ही है । आत्मा के ध्यान से ही आत्मसिद्धि होती है । तथापि आत्मा के प्रतिबिंब अरिहंत सिद्ध परमात्मा है । तथा आत्मा के साधक आचार्य—उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं । इसलिये प्राथमिक अवस्था में पंचमपरमेष्ठी के ध्यान का ही उपदेश दिया गया है । ध्यान का अंतिम साध्य आत्मसिद्धि है इसलिये आत्मगुणों का ध्यान, आत्मस्वभाव की चर्चा, आत्मा के ४७ शक्ति तत्त्वों का अभ्यास—पठन—पाठन—मनन, चिंतन, अनुभवन ये सब ध्यान करने के विषय हैं ।

५. ध्यान का फल—ध्यान के सिद्धि के लिये शरीर की चेष्टा ( क्रिया व्यवहार ) करना बंद करो, बचन की क्रिया अन्तर्जल्प—बहिर्जल्प बंद करो, मन की चेष्टा बंद करो, सब संकल्प विकल्पों का त्याग करो । जिससे आत्मा आत्मा में स्थिर वृत्ति धारण करे । आत्मा का आत्मा में रमण होना ही सच्चा ध्यान है और वही ध्यान का फल है ।

सम्यग्दर्शन सहित व्रत, तप करनेवाला, निरंतर श्रुताभ्यास करनेवाला आत्मा ही ध्यानरथ पर आरूढ हो सकता है इसलिये ध्यान की सिद्धि के लिये व्रतों को धारण करो, तप का पालन करो, शास्त्र का स्वाध्याय करो ।

इस प्रकार अंतिम निवेदन कर अपना अल्पश्रुताभ्यास की लघुता बतला कर यदि इस ग्रंथ में प्रमाद-वश कुछ दोष रहे हो तो श्रुतपूर्ण ज्ञानी जन उनको दूर करके उनका संशोधन करे ।

ऐसी प्रार्थना कर ग्रंथ समाप्त किया है ।

---